GL H 891.431
AGY
124023
LBSNAA

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
Lal Bahadur Shastri Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY
— 124023
अवाप्ति संख्या
Accession No. 15715
वर्ग संख्या
Class No. GL H 891.431
पुस्तक संख्या
Book No. AGY अज्ञेय

बावरा अहेरी

'अज्ञेय'

जन्म १९११; प्रकाशित रचनाएँ:

कविता—भग्नदूत १९३३, चिन्ता १९४२, इत्यलम् १९४६, हरी घासपर क्षणभर १९४९, प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स (अंग्रेज़ी) १९४६। कहानियाँ—विपथगा १९३७, परम्परा १९४४, कोठरी की बात १९४५, शरणार्थी १९४८, जय-दोल १९५१। उपन्यास—शेखर: एक जीवनी, प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, नदी के द्वीप १९५२। भ्रमण-वृत्तान्त—अरे यायावर रहेगा याद? १९५३।

सम्पादित ग्रन्थ: आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध-संग्रह) १९४२, तार-सप्तक (कविता-संग्रह) १९४३, दूसरा सप्तक (कविता-संग्रह) १९५१, पुष्करिणी (कविता-संग्रह) १९५३, नये एकांकी १९५२। संयुक्त रूपसे—हिन्दीकी प्रतिनिधि कहानियाँ १९५२, नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ १९४९। अंग्रेज़ीमें—'इंडिया लायब्रेरी' के अन्तर्गत श्रीकान्त (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का अनुवाद) १९४४, द रेज़िग्नेशन (जैनेन्द्रकुमारके त्यागपत्र का अनुवाद) १९४६।

बावरा अहेरी

१९५०-१९५३ की कविताएँ

'अज्ञेय'

सरस्वती प्रेस

इलाहाबाद • बनारस

कापीराइट १९५४
सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथमावृत्ति

जे० के० शर्मा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

सूची

राय कृष्णदास को
सादर

बावरा अहेरी

आज तुम शब्द न दो

आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।

तुम पर्वत हो अभ्र-भेदी शिला-खण्डों के गरिष्ठ पुंज
चाँपे इस निर्भर को रहो, रहो
तुम्हारे रन्ध्र-रन्ध्र से
तुम्हीं को रस देता हुआ
फूट कर मैं बहूँगा।

तुम्हींने दिया यह स्पन्द
तुम्हींने धमनी में बाँधा ह लहू का वेग
यह मैं अनुक्षण जानता हूँ।
गति जहाँ सब कुछ है, तुम धृति पारमिता
जीवन के सहज छन्द
तुम्हें पहचानता हूँ।
माँगो तुम चाहे जो: माँगोग, दूंगा
तुम दोगे जो मैं सहूँगा।

आज नहीं
कल सही
कल नहीं
युग-युग बाद ही:
मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो।

मेरा भाव-यन्त्र ?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की
उस में छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान—
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।
आज नहीं,
कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाये
यह आग मैं रहूँगा ?

आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।

घास-फूल धैर्य का

दृश्यों के अन्तराल में
जीवन बिला गया
संशय के दंश से
साहस तिलमिला गया
प्यार पर हारा नहीं
अमल विनय से
घास-फूल धैर्य का
चुप के खिला गया !

प्रथम किरण

भोर की
प्रथम किरण
फीकी :

अनजाने
जागी हो
याद
किसी की—

अपनी
मीठी
नीकी ।

धीरे-धीरे
उदित
रवि का
लाल-लाल
गोला

चौंक कहीं पर
छिपा
मुदित
बन-पाखी
बोला

दिन है
जय है
यह बहु-जन की :

प्रणति,
लाल रवि,
ओ जन-जीवन
लो यह
मेरी
सकल साधना
तन की
मन की—

वह बन-पाखी
जाने गरिमा
महिमा
मेरे छोटे
चेतन
छन की !

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
    लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मँझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
    उड़ने जहाज़
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली
उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को :
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि रूप-रेखा को
और दूर कचरा जलाने वाली कल की उद्दंड चिमनियों को, जो
    धुआँ यों उगलती हैं मानों उसी मात्र से अहेरी को
                                    हरा देंगी !

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखट है :

एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
    दुबकी ही छोड़ कर क्या तू चला जायगा ?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे
    आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
    कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक-तार तेरे—
    बावरे अहेरी।

वसन्त गीत

मलय का झोंका बुला गया
खेलते से स्पर्श से
वो रोम-रोम को कँपा गया—
जागो, जागो,
जागो सखि वसन्त आ गया ! जागो !

पीपल की सूखी खाल स्निग्ध हो चली
सिरिस ने रेशम से वेणी बाँध ली
नीम के भी बौर में मिठास देख
हँस उठी है कंचनार की कली
टेसुओं की आरती सजा के
बन गयी वधू वनस्थली !

स्नेह भरे बादलों से
व्योम छा गया—
जागो, जागो,
जागो सखि वसन्त आ गया ! जागो !

चेत उठी ढीली देह में लहू की धार
बेध गयी मानस को दूर की पुकार
गूंज उठा दिग्दिगन्त
चीन्ह के दुरन्त यह स्वर बार-बार :
'सुनो सखि ! सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है यौवन में प्यार !'

आज मधु-दूत निज
गीत गा गया
जागो, जागो,
जागो सखि वसन्त आ गया ! जागो !

वसन्त की बदली

यह वसन्त की बदली
पर क्या जाने कहीं बरस ही जाय ?
विरस ठूँठ में कहीं
प्यार की कोंपल एक सरस ही जाय ?
दूर-दूर, भूली ऊषा की
खोयी किरण एक अलसानी—
उस की चितवन की हल्की-सी
सिहरन मुझे परस ही जाय !

हवाएँ चेत की

बह चुकीं बहकी हवाएँ चेत की
कट गयीं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ा कर दीप की---
गिन रहा होगा महाजन सेंत की ।

ये मेघ साहसिक सैलानी !

ये मेघ साहसिक सैलानी !

ये तरल वाष्प से लदे हुए
द्रुत साँसों से लालसा-भरे;
ये ढीठ समीरण के झोंके;
कंटकित हुए रोएँ तन के
किन अदृश करों से आलोडित
स्मृति-शेफाली के फूल झरे !

झर-झर झर-झर
अप्रतिहत स्वर
जीवन की गति आनी-जानी !

झर—
नदी कूल के चल-नरसल
झर—उमड़ा हुआ नदी का जल
ज्यों क्वारपने की केंचुल में
यौवन की गति उद्दाम प्रबल!

झर—
दूर आड़ में झुरमुट की
चातक की करुण-कथा बिखरी
चमकी टटीहरी की गुहार
झाऊ की साँसों में सिहरी

मिल कर सहसा सहमी ठिठकीं
वे चकित मृगी की आँखड़ियाँ
झर ! सहसा दर्शन से झंकृत
इस अल्हड़ मानस की कड़ियाँ !

झर—
अन्तरिक्ष की कौली भर
मतियाया-सा भूरा पानी
थिगलियाँ भरे छीजे आँचल-सी
ज्यों-त्यों बिछी धरा धानी,

हम कुंज-कुंज यमुना तीरे
कर गूँथ-गूँथ धीरे-धीरे
बढ़ चले अटपटे पैरों से
छिन लता-गुल्म, छिन वानीरे

झर-झर झर-झर
द्रुत मन्द्र-स्वर
आये दलबल ले अभिमानी
ये मेघ साहसिक सैलानी !

कम्पित फरास की ध्वनि सरसर
कहती थी कौतुक से भर कर
पुरवा-पछवा हरकारों से
कह देगा सब निर्मम हो कर
दो प्राणों का सलज्ज मर्मर—
औत्सुक्य-सजग पर शील-नम्र
इन नभ के प्रहरी तारों से !

ओ कह देते तो कह देते
पुलिनों के ओ नटखट फरास !
ओ कह देते तो कह देते

पुरवा-पछवा के हरकारो,
नभ के कौतुक-कम्पित तारो—
हाँ, कह देते तो कह देते
लहरों के ओ उच्छ्वसित हास!

पर अब—झर-झर
स्मृति-शेफाली,
यह युग-सरि का
अप्रतिहत स्वर

झर-झर—स्मृति के पत्ते सूखे
जीवन के अन्धड़ में पिटते
मरुथल के रेणुक-कण रूखे !
झर—जीवन-गति आनी-जानी
उठतीं-गिरतीं सूनी साँसें
लोचन-अन्तस् प्यासे-भूखे
अलमस्त चल दिये छलिया-से
ये मेघ साहसिक सैलानी !

शरद की साँझ के पंछी

ऊपर फैला है आकाश, भरा तारों से—
भार-मुक्त से तिर जाते हैं
पंछी
डैने बिना हिलाये ।
जी होता है मैं सहसा गा उठूं
उमगते
स्वर जो कभी नहीं भीतर से फूटे
कभी नहीं जो मैंने—
कहीं किसी ने—गाये ।

किन्तु अधूरा है आकाश
हवा के स्वर बन्दी हैं
मैं धरती से बँधा हुआ हूँ—
हूँ ही नहीं, प्रतिध्वनि भर हूँ
जब तक
नहीं उमगते तुम स्वर में मेरे प्राण-स्वर,
तारों में स्थिर मेरे तारे,
जब तक नहीं तुम्हारी लम्बायित परछाहीं
कर जाती आकाश अधूरा
पूरा ।
भार-मुक्त
ओ मेरी संज्ञा में तिर जानेवाले पंछी
देख रहा हूँ तुम्हें मुग्ध
मैं ।

यह लो:
लाली में से उभर चम्पई
उठा दूज का चाँद कँटीला।

वर्षान्त

जिस दिन आया था वसन्त, उपवन में जागी हँसी अतर्कित,
हम सोच रहे थे,
ऋतुओं के अनुक्रम में पहली मधु है, शीत, शरद् या वर्षा।

जिस दिन फूटा तारा—नभ की छाती मानो हुई कंटकित—
हमें यही चिन्ता थी
तारों की किरणें किस कारण से कँपती हैं ?

जिस दिन जागा भाव, उलझते बैठे थे हम
जाँच रहे थे भावन, चिन्तन, कर्म-प्रेरणा के सम्बन्ध परस्पर।

आज—
आज, हाँ—
इस बालू के तट पर—(किस का तट, जो अन्तहीन फला ही फैला
दीठ जहाँ तक भी जाती है !)—
बैठे हम अवसन्न-भाव से पूछ रहे हैं :
कहाँ गया वह ज्वार, हमारा जीवन, वह हिल्लोलित सागर कैसे,
कहाँ गया ?

लो : मुट्ठी भर रेत उठाओ :
ठीक कह रहा हूँ मैं, हँसी नहीं है,
उसे उँगलियों में से बह जाने दो : बस।
यों।
इस यों में ही हैं सब जिज्ञासाओं के उत्तर।

फिर भी
जिज्ञासा का उत्तर अन्त नहीं है
जीवन का कौतूहल है अदम्य : जीवन की आशा
नहीं छोड़ सकती अन्वेषण;

यह जो
इतना लम्बा है कछार
बालू का
पार
कहीं इस का होना ही होगा :
सागर की ही यह जूठन है :
पहुँच सकें हम, बस इतना है।
साथ चले चलते रह सकते हो क्या ?
बोलो, साथी, है क्या साहस ?

जाता हूँ सोने

अकारण उदास
भर सहमी उसाँस
अपने सूने कोने
(कहाँ तेरी बाँह ?)
मैं जाता हूँ सोने।
फीके अकास
के तारों की छाँह
में बिना आस, बिना प्यास
अन्धा बिस्वास
ले, कि तेरे पास
आता हूँ मैं तेरा ही होने।

अपने घरौंदे के उदास सूने कोने
मैं जाता हूँ सोने।

सन्ध्या तारा

कभी मैं चाहता हूँ
कभी पहचान लेता हूँ
कभी मैं जानता हूँ चाहना-पहचानना
कुछ भी नहीं बाकी:
तुम्हें मैंने पा लिया है।

कभी बदली की तहों में डूब जाता है
सुलगता लाल दिन का,
बलाका रेख-सी स्मृति की
कभी नभ पार करती चली जाती है,
कभी आँगन में अकेले सद्य जागे मुग्ध शिशु जैसा
स्वतःसम्पूर्ण
तारा चमक आता है।

ऊगा तारा

ऊगा तारा :
मैंने देखा नहीं कि कब
    बुझ गया
लाल आलोक सर्य का। पर जब देखा
देखा यही :
कि पेड़ों-चट्टानों में उलझी
हारी हुई
लालिमा में द्योतित है शुक्र
अकेला तारा।

फिर आयेंगे और :
कवि कह गये कि हाँ, जब सिंह चला जाता है
तब आते हैं—
    नहीं ! नहीं, वह मेरा शुक्र
कभी उच्छिष्ट नहीं खाता है !

मैं जो रहा अनमना—देखा नहीं हारना रवि का
याद कर रहा था वह दिन-क्षण—वह युग-सन्धि
हार जब सब कुछ
    झुक कर
अन्धकार के आगे घुटने टेक
    दीन होने को
काँप उठा था तन—

तब

तुमने सहसा मुझे जगा कर उस हत-प्रज्ञ

पराजय की तन्द्रा से

देख मुझे स्थिर आँखों से (बुध-शुक्र युगल मेरे मानस का)

यही कहा था :

देखो अब भी चमक रहा है तारा !

शुक्र अकेला

तारा

तब से चमक रहा है

कितने हार चुके हैं सूरज

कितनी

हेरा गयीं लालियाँ कितने

पत्रहीन सूखे पेड़ों में ।

लो प्रणाम लो, तारे

आँखों के, प्राणों के,

सूनी सन्ध्याओं के एक सहारे !

ऊगा तारा :

पेड़ों-चट्टानों में उलझी हारी हुई लालिमा में द्योतित है एक

अकेला तारा

शुक्र

हमारा ।

वह नाम

...यही तो गा रहे हैं पेड़
यही सरिता की लहर में काँपता है
यही धारा के प्रपातित विन्दुओं का हास है ।

...इसी से
मर्मरित होंगी लताएँ
सिहर कर झर जायँगी कलियाँ अदेखी
मेघ घन होंगे
बलाकाएँ उड़ेंगी
झाड़ियों में चिहुँक कर पंछी
उभारे लोम
सहसा बिखर कर उड़ जायँगे
ओस चमकेगी विकीरित रंग का उल्लास ले
पहली किरण में !

...फैली धुन्ध में बाँधे हुए हैं अखिल संसृति
नियम में शिव के
यही तो नाम...
यही तो नाम—
जिसे उच्चारते ये ओठ आतुर
झिझक जाते हैं ।

...पास आओ !
जागरित दो मानसों के संस्फुरण में
नाम वह संगीत बन कर मुखर होता है ।

कहाँ हैं दोनों तुम्हारे हाथ
सम्पुटित कर के मुझे दो :
कोकनद का कोष वह
गुंजरित होगा
नाम से—
उस नाम से...

नख-शिख

तुम्हारी देह
मुझ को कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से
स्मरण में भी गन्ध देती है।
[रूप स्पर्शातीत वह जिस की लुनाई
कुहासे-सी चेतना को मोह ले।]

तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस-बूँदें हैं
अछूती, ज्योतिमय,
भीतर द्रवित।
[मानो विधाता के हृदय में
जग गयी हो भाप करुणा की अपरिमित।]

तुम्हारे ओठ—
पर उस दहकते दाड़िम-पुहुप को
मूक तकता रह सकूँ मैं—
[सह सकूँ मैं
ताप ऊष्मा का मुझे जो लील लेती है!]

देह-वल्ली

देह-
वल्ली ।
रूप को
एक बार बेझिझक देख लो ।
पिंजरा है ? पर मन इसी में से उपजा ।
जिस की उन्नीत शक्ति आत्मा है ।

देखो देह-
वल्ली ।
भव्य बीज रूपाकारों का :
'निर्गन्धा इव किंशुका :'
गन्ध के उपभोक्ता किन्तु कहें तो
कब हम वसन्त के उन्मेष को
नहीं उस एक संकेत से पहचान सके ?
कब वह नहीं हुआ
जीवन के चिरन्तन
स्वयम्भाव का प्रतीक ?
देखो
व्रीडाहीन : इस कान्ति को
आँखों में समेट लो ।

देखो
रूप-
नाम-हीन
एक ज्योति
अस्मिता इयत्ता की
ज्वाला
अपराजिता अनावृता ।

वेदना की कोर

चेतना की नदी
बहती जाय तेरी ओर

मौन तेरे ध्यान में
मैं रहूँ आत्म-विभोर

अलग हूँ, पर विरह की धमनी
तड़पती लिये स्पन्दित स्नेह

और मेरे प्यार में
ओ हृदय के आलोक मेरे
वेदना की कोर !

सबेरे-सबेरे तुम्हारा नाम

सबेरे-सबेरे
तुम्हारा नाम ।
एक सिहरन, जो तन को रोमांचित कर जाय
एक विकसन, जो मन को रंजित कर जाय
एक समर्पण जो
आत्मा को तल्लीनता दे ।

अँधेरी रात
जागते शिशु की तरह मुस्करा उठे ;
दिन
हो एक आलोक-द्वार जिस से मुझे जाना है ।
(समय मेरा रथ और उल्लास मेरा घोड़ा ।)

मेरा जीवन——
घास की पत्ती से झूलती हुई यह अजानी ओस-बूंद——
सूर्य की पहली किरण से जगमगा उठे और स्वयं
किरणें विकीरित करने लगे ।

मेरा कर्म
मेरे गले का जूआ नहीं,
वह जोती हुई भूमि बन जाय
जिस में मुझे
नया बीज बोना है ।

गाते हुए गान
गाते हुए मन्त्र
गाते हुए नाम :
सबेरे-सबेरे
तुम्हारा नाम ।

हवाई यात्रा

फैला है पठार,
सलवट की ओट बिछा है कन्था :
काली परती, भूरे ऊसर,
तोतापरी खेत गेहूँ के,
कितनी हैं थिगलियाँ पुराने इस कन्थे पर !
सिलीं
मेंड़ की या पगडंडी की जर्जर डोरी से—
उपयोगी थिगलियाँ।
कहीं पर
किसी मनचले कलाकार की
आँकी-बाँकी हरी लीक
कुलिया की।

कन्थे पर यह जमी हुई है चौसर :
इतनी उँचे से गोटें तो नहीं दीखतीं
पर घर
पहचाने जाते हैं।

इधर रहा यह गोल रहँट का :
काले-चिट्टे चींटे खींच रहे हैं एक सुरमचू,
सुरमेदानी नहीं दीखती : मस्से-सा कूएँ का
मुँह है।
उधर बिछे हैं ढेर नाज के—

टीले खलिहानों के—
सोने के मन-लोभन पाँसे।

मैं तो हूँ उड़ रहा खिलाड़ी :
जाने-अनजाने माने हूँ
जोखम का है खेल हवाई यात्रा।
पर नीचे चौसर के अगल-बगल जो
पाँसे डाले
खेल बिछाये
हर दम रहता—
उस अपने आड़ी किसान की जोखम
मुझ से बहुत बड़ी है—
मैं जो अपनी एक जान को ही चिपटे हूँ—
वह अपने आगे-पीछे सैकड़ों पीढ़ियाँ
दाँव-दाँव पर बद देता है।

ऊँचाई कम चली : शीघ्र ही वायुयान
उतरेगा।
बड़े शहर के ढंग और हैं : हम गोटें हैं वहाँ :
दाँव गहरे हैं उस चौपट के।

शोषक भैया

डरो मत, शोषक भैया,
पी लो ।
मेरा रक्त ताज़ा है
मीठा है
हृद्य है ।
पी लो, शोषक भैया,
डरो मत ।
शायद तुम्हें पचे नहीं—
अपना मेदा तुम देखो, मेरा क्या दोष है ।
मेरा रक्त मीठा तो है, पर पतला या हलका भी हो
इस का जिम्मा मैं तो नहीं ले सकता,
शोषक भैया ?
जैसे कि सागर की लहर
सुन्दर हो
यह तो ठीक,
पर यह आश्वासन तो नहीं दे सकती कि किनारे को लील नहीं लेगी ?
डरो मत, शोषक भैया,
मेरा रक्त ताज़ा है
मेरी लहर भी ताज़ा और शक्तिशाली है ।
ताज़ा, जैसे भट्ठी से ढलते गले इस्पात की धार,
शक्तिशाली, जैसे तिसूल :
और पानीदार !
पी लो, शोषक भैया,

डरो मत :
मुझ से क्या डरना ?
वह मैं नहीं, वह तो तुम्हारा-मेरा सम्बन्ध है
जो तुम्हारा काल है !
शोषक भैया ।

जनवरी छब्बीस

१

आज हम अपने युगों के स्वप्न को
यह नयी आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

आज हम अक्लान्त, ध्रुव, अविराम गति से
बढ़े चलने का कठिन व्रत धर रहे हैं
आज हम समवाय के हित, स्वेच्छया,
आत्म-अनुशासन नया यह वर रहे हैं।
निराशा की दीर्घ तमसा में सजग रह
हम हुताशन पालते थे साधना का—
आज हम अपने युगों के स्वप्न को
आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

२

सुनो हे नागरिक !
अभिनव सभ्य भारत के नये जनराज्य के
सुनो ! यह मंजूषा तुम्हारी है।
पला है आलोक चिर-दिन यह तुम्हारे स्नेह से
तुम्हारे ही रक्त से।
तुम्हीं दाता हो, तुम्हीं होता, तुम्हीं यजमान हो।
यह तुम्हारा पर्व है।
भूमि-सुत ! इस पुण्य-भू की प्रजा,
स्रष्टा तुम्हीं हो इस नये रूपाकार के
तुम्हीं से उद्‌भूत हो कर बल तुम्हारा

साधना का तेज—तप की दीप्ति
तुम को नया गौरव दे रही है !
यह तुम्हारे कर्म का ही प्रस्फुटन है ।
नागरिक, जय ! प्रजा-जन, जय !
राष्ट्र के सच्चे विधायक, जय !

३

हम आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं
और मंजूषा तुम्हारी है ।
और यह आलोक
तुम्हारे ही अडिग विश्वास का आलोक है ।

किन्तु रूपाकार यह केवल प्रतिज्ञा है
उत्तरोत्तर लोक का कल्याण ही है साध्य
अनुशासन उसी के हेतु है ।

४

यह प्रतिज्ञा ही हमारा दाय है लम्बे युगों की
साधना का, जिसे हम ने धर्म जाना ।
स्वयं अपनी अस्थियाँ दे कर हमीं ने असत् पर
सत् की विजय का मर्म जाना ।
सम्पुटित कर हाथ, जिस ने गोलियाँ निज वक्ष पर
झेलीं, शमन कर ज्वार हिंसा का—
उसी के नत-शीश धीरज को हमारे स्तिमित चिर-संस्कार
ने सच्चा कृती का कर्म जाना ।

साधना रुकती नहीं
आलोक जैसे नहीं बँधता ।
यह सुघर मंजूष भी

झर गिरा सुन्दर फूल है पथ-कूल का।
माँग पथ की इसी से चुकती नहीं।

फिर भी बीन लो यह फूल
स्मरण कर लो इसी पथ पर गिरे सेनानी जयी को,
बढ़ चलो फिर शोध में अपने उसी
धुँधले युगों के स्वप्न की
जिसे हम आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

आज हम अपने युगों के स्वप्न को
यह नयी आलोक-मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।

काँगड़े की छोरियाँ

काँगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ
लाला जी, जेवर बनवा दो
खाली करो तिजोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ !

ज्वार-मका की क्यारियाँ
हरियाँ-भरियाँ प्यारियाँ
धनखेतों में लहर हवा की
सुना रही है लोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ !

पुतलियाँ चंचल कालियाँ
कानों झुमके-बालियाँ
हम चौड़े में खड़े लुट गये
बनी न हम से चोरियाँ—
काँगड़े की छोरियाँ !

काँगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ !

दफ़्तर : शाम

बाहर देख आया हूँ
[और भी जाते हैं
बीड़ी-सिगरेट फूंक आते हैं
या कि पान खाते हैं
और जिस देह में है खून नहीं, रसना में रस नहीं,
उस की लाल पीक से दीवारें रँग आते हैं]
मैं भी देख आया हूँ—
वही तो तारे हैं, वही आकाश है।

किन्तु यहाँ आसपास
घुमड़न है त्रास है
मशीनों की गड़गड़ाहट में
भोली [कितनी भोली] आत्माओं की
अनुरणन की मोहमयी प्यास है।

यन्त्र हमें दलते हैं
और हम अपने को छलते हैं,
'थोड़ा और खट लो, थोड़ा और पिस लो—
यन्त्र का उद्‌देश्य तो बस शीघ्र अवकाश,
और अवकाश, एक मात्र अवकाश है !'

बाहर हैं वे—वही तारे, वही एक शुक्र तारा,
वही सूनी ममता से भरा आकाश है !

तड़िद्दर्शन

अरे किसे तुम पकड़ते हो ?
आकाश में असंख्य तारे हैं।
दूर हैं, अज्ञात हैं, इसी लिए
वे हमारे हैं।
बाकी यहाँ ? क्यों व्यर्थ अकड़ते हो
अरे, सब एक से बेचारे हैं।

खद्योत-दर्शन

चाँद तो थक गया
गगन भी बादलों से ढक गया;
वन तो वनैला है
अभी क्या ठिकाना कितनी दूर तक फैला है ?
अन्धकार।
घनसार।
अरे पर देखो तो वो पत्तियों में
जुगनू टिमक गया !

तारा-दर्शन

हमने हाथ नहीं बढ़ाया :
   हमने आँखों से चूम लिया ।
खड़े ही रहे हम, थिर, हाँ,
   हमारे भीतर ही ब्रह्मांड घूम लिया ।
'कितनी दूर होते हैं तारे',
   हम सोचते तो सोचते ही रह जाते,
'कब भला भाग्य जागेंगे हमारे ?'
पर हम सोच कुछ सके नहीं, बस अपलक
खड़े रहे, उद्ग्रीव मानों चातक रह जाय ठिठक,
फिर, हाँ,
स्वाती तो हमारी आँखों में ही उतर आया !
(खड़े ही रहे हम, थिर, हाँ,
हमने हाथ नहीं बढ़ाया ।)

उषा-दर्शन

मैंने कहा—
डूब, चाँद ।
रात को सिहरने दे
कुइँयों को मरने दे
आक्षितिज तम फैल जाने दे ।
पर तम
थमा और मुझी में जम गया ।
    मैंने कहा—
    उठ री लजीली भोर-रश्मि, सोयी
    दुनिया में तुझे कोई
    देखे मत, मेरे भीतर समा जा तू
    चुपके से मेरी यह हिमाहत
        नलिनी खिला जा तू ।
    वो प्रगल्भा मानमयी
    बावली-सी उठ सारी दुनिया में फैल गयी !

वहाँ—रात

पत्थरों के उन कँगूरों पर
अजानी गन्ध-सी
अब छा गयी होगी
उपेक्षित रात।
बिछलती डगर-सी सुनसान
सरिता पर
ठिठक कर सहम कर
थम गयी होगी बात।

अनमनी-सी धुन्ध में चुपचाप
हताशा में ठगे-से
वेदना से क्लिन्न
पुरनम टमकते तारे।
हार कर मुरझा गये होंगे
अँधेरे में बिचारे—
विरस रेतीली
नदी के दोनों किनारे।

रुके होंगे युगल चकवे
बाँध अन्तिम बार
जल पर
वृत्त मिट जाते दिवस के प्यार का—
अपनी हार का।

गन्ध-लोभी व्यस्त मौना
कोष कर के बन्द
पड़ी होगी मौन
समेटे पंख, खींचे डंक,
मोम के निज भौन में निष्पन्द !

पंचमी की चाँदनी
कँपती उँगलियों से
आँख पथरायी समय की
आँज जावेगी ।
लिखत को 'आज' की
फिर पोंछ
'कल' के लिए
पाटी माँज जावेगी ।

*   *   *

कहा तो सहज, पीछे लौट देखेंगे नहीं–
पर नकारों के सहारे कब चला जीवन ?
स्मरण को पाथेय बनने दो :
कभी तो अनुभूति उमड़ेगी
प्लवन का सान्द्र घन भी बन !

तुम फिर आ गये, क्वाँर ?

भाले की अनी-सी बनी
बगुलों की डार,
फुटकियाँ छिटफुट
गोल बाँध
      डोलतीं
सिहरन उठती है एक देह में।
कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेह में---
तुम फिर आ गये, क्वाँर ?

चाँदनी जी लो

शरद चाँदनी
    बरसी
अँजुरी भर कर पीलो
ऊँघ रहे हैं तारे
    सिहरी सरसी
ओ प्रिय कुमुद ताकते
    अनझिप
क्षण में
    तुम भी जी लो।

सींच रही है ओस
    हमारे गाने
घने कुहासे में
    झिपते
    चेहरे पहचान
खम्भों पर बत्तियाँ
    खड़ी हैं सीठी
ठिठक गये हैं मानो
    पल-छिन
    आने-जाने।

उठी ललक
    हिय उमँगा
    अनकहनी

अलसानी
जगी लालसा
मीठी,
खड़े रहो ढिग
गहो हाथ
पाहुन मन-भाने,

ओ प्रिय रहो साथ,
भर-भर कर अँजुरी
पी लो

बरसी
शरद चाँदनी
मेरा

अन्तःस्पन्दन
तुम भी क्षण-क्षण जी लो !

SPECIMEN COPY

झरने के लिए

हवा से सिहरती हैं पत्तियाँ
किन्तु झरने के लिए
उमगती हैं छालियाँ
किसी दूर कछार पर
खा कर पछाड़ें
फिर बिखरने के लिए !

मरणधर्मा है सभी कुछ
किन्तु फिर भी बहो
मीठी हवा
जीवन की क्रियाओं को
तुम्हीं तो तीव्र करती हो !

बहो
मीठी हवा, तुम बहती रहो
पगली हवा, गति बढ़े जीवन की।
उभरने के लिए
जीवन
यदपि मरने के लिए
सिहर झरने के लिए !

अन्धड़

झरने दो
साँस-साँस में भरने दो
धूल ।
धूसरित करने दो
तन को—जो दूध की धुली तो नहीं !—
सिहरने दो ।
झरने दो ।

तिरने दो
पौन के हिंडोलों में पत्तियों को गिरने दो
टूटने दो टहनियाँ फूटने दो
शूल ।
फिर वायुमंडल को थिरने दो
निथुरे समीर पर बिथुरे सुवास, अरे
फूल !
मधु है, सुमिरने दो ।
तिरने दो ।

रसने दो
आकाश का विदग्ध उर
उमसने दो कसने दो
घुमड़ने-उमड़ने दो
दुर्निवार मेघ को
रस-धार बरसने दो ।

स्नेह की बौछार तले धरती को
पागल-सी हँसने दो
मेरा मुग्ध मानस विकसने दो।
रसने दो।

आने दो
हहराती इस लहर को काट कर गिराने दो
कूल।
उसी के वक्ष पर फिर पछाड़ खाने दो
सुध बिसराने दो
गल कर वत्सल हो जाने दो
आने दो।

विज्ञप्ति

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो,
जीवन का रस लो : देह-मन-आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो ।
जरा है भुजा तितीर्षा की : मत बनो बाधा
जिजीविषु को तर जाने दो ।

आसक्ति नहीं आनन्द है सम्पूर्ण व्यक्ति की
अभिव्यक्ति :
मरूँ मैं, किन्तु मुझे घोषित यह कर जाने दो ।

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति दे दो।

यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत :
इस को भी शक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा,
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो ।

यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिस की गहराई को स्वयं उसी ने नापा;
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में

यह सदा-द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इस को भक्ति को दे दो :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

जो कहा नहीं गया

है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।

उठी एक किरण, धायी, क्षितिज को नाप गयी,
सुख की स्मिति कसक-भरी, निर्धन की नैन-कोरों में काँप गयी,
बच्चे ने किलक भरी, माँ की वह नस-नस में व्याप गयी।
   अधूरी हो, पर सहज थी अनुभूति :
मरी लाज मुझे साज बन ढाँप गयी—
फिर मुझ बेसबरे से
   रहा नहीं गया।
पर कुछ और रहा जो
   कहा नहीं गया।

निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या ? नदी-नाले ताल-कुएँ से पानी उलीचा है
तो क्या ? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ, पारंगत हूँ,
इसी अहंकार के मारे
अन्धकार में सागर के किनारे
ठिठक गया : नत हूँ
उस विशाल में मुझसे
   बहा नहीं गया।
इस लिए जो और रहा, वह
   कहा नहीं गया।

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसी लिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।
शायद केवल इतना ही: जो दर्द है
वह बड़ा है, मुझी से
    सहा नहीं गया।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह
    कहा नहीं गया।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No...............................

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL H 891.431
AGY

124023
LBSNAA

H
891.431
अज्ञेय

अवाप्ति सं०
ACC. No. ~~15715~~

वर्ग सं.
Class No. ....
पुस्तक सं.
Book No. ....

लेखक
Author अज्ञेय, सच्चिदानन्द वात्स्यायन

891.431 LIBRARY ~~15715~~
LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
अज्ञेय
MUSSOORIE

Accession No. 124023

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.